

आलोचना का प्रयोजन

विश्वेश कुमार मिश्र

जे.आर.एफ़ शोधछात्र हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रस्तावना

आज का समय, समाज व युग एक ऐसी जटिल और खतरनाक अवस्था से गुजर रहा है कि भूमण्डलीकरण एक शब्द नहीं बल्कि संस्कृति है। भूमण्डलीकरण बाजारवाद ने संस्कृति, साहित्य, इतिहास, दर्शन व परम्परा आदि को मिटाने का बीड़ा उठाया है और पूरी सामूहिकता व वैश्विकता के बावजूद मनुष्य को अकेला बना दिया गया है। कम्प्यूटर ने दिखने वाली दुनिया उसे अपने ही समाज से काटकर आत्म-केन्द्रित बना दिया है। प्रश्न उठता है कि क्या साहित्य इस मूल्यहीनता व मूल्यरक्षण की स्थिति की चुनौतियों का सामना कर पा रहा है? ऐसी परिस्थितियों में आलोचना की जरूरत को समझने से पूर्व आलोचना क्या है? इसे समझना बेहद जरूरी हो जाता है। आलोचना अपने संकीर्ण अर्थों में केवल रचना के व्याख्या व विश्लेषण तक ही सीमित रहती है। अगर व्यापक अर्थों में देखा जाए तो आलोचना रचना के माध्यम से समाज के इतिहास, सभ्यता और संस्कृति का परीक्षण करती है। ऐसी दशा में क्या ग्रहणीय है एवं क्या त्याज्य है इसे भी बताती है।

आलोचना

साहित्य को 'जीवन की आलोचना' कहा जाता है लेकिन यह कोरी बुद्धिविलास नहीं है। आलोचना के द्वारा हम एक प्रकार से सभ्यता समीक्षा करते हैं। इससे समकालीनता का आकलन इतिहास एवं परम्परा को केन्द्र में रखकर ही किया जा सकता है। सार्थक आलोचना वही है जिसमें विचारों की नवीनता, व्याख्या की विश्वसनीयता एवं भाषा की रचनात्मकता ऐसी हो जो पाठकों की साहित्यिक समझदारी और उनकी सामाजिक संवेदनशीलता का विकास करे। आलोचना अपने समय और समाज की हलचलों और वैचारिक तथा संवेदनात्मक परिवर्तनों की प्रति सजग होने के कारण हमारा पथ-प्रदर्शन भी करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वस्थ समाज एवं सृजनात्मकता के निर्माण के लिए आलोचना की नितान्त आवश्यकता है।

एक आलोचना तथा आलोचना की आवश्यकता इसलिए भी आती है कि वह कृतियों में आने वाले संकेत चिन्हों को ग्रहण कर उसे व्याख्यायित करे। कृतियों में समाहित मनुष्यता के रक्षा के भाव, विचार व मूल्यों को सामान्य पाठकों के सम्मुख रखे। मूल्यहीनता व मनुष्यता क्षरण के एक ऐसे युग में आलोचना व आलोचक का महत्व व जिम्मेदारियां दोनों बढ़ गई हैं। इस संकट के समय आलोचक को मनुष्यता का रक्षक बनना पड़ेगा।

वर्णाश्रम व्यवस्था के कारण भारतीय समाज असमानता व विषमता सदियों से व्याप्त है। एक ही समाज में ऊँच-नीच, गरीब, अमीर, अस्पृश्य-स्पृश्य, सर्वण-अवर्ण सब साथ रहते हैं। उत्तर आधुनिकता ने जिस प्रकार हाशिए (दलित, स्त्री व आदिवासी) के लोगों में चेतना का भाव निर्माण किया है उससे टकराव की स्थिति बढ़ गई है। इस प्रकार की परिस्थितियों से समाज का मानस और उसकी क्रियाशीलता प्रभावित होती है। ऐसी स्थिति में आलोचक समाज के मानस व उसकी क्रियाशीलता को ग्रहण करके और उसका ऐतिहासिक विश्लेषण करके पाठकों के सामने रखे ऐतिहासिक

विश्लेषण, विवेचन व चेतना के निर्माण की प्रक्रिया व मूल्यांकन को लेकर आलोचना की आवश्यकता पड़ती है।

मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' में लिखा है कि— 'यथार्थ के तत्व परस्पर गुन्फित होते हैं, साथ ही पूरा यथार्थ गतिशील होता है। अभिव्यक्ति का विषय बनकर जो यथार्थ प्रस्तुत होता है वह भी ऐसा ही गतिशील है और इसके तथ्य भी परस्पर गुन्फित हैं। यही कारण है कि मैं छोटी कविताएं लिख नहीं पाता और जो छोटी होती है वे वस्तुतः छोटी न होकर अधूरी होती हैं।' आज जब हम छोटी कविताओं के युग में जी रहे हैं और यथार्थ पहले से अधिक जटिल व गुन्फित हो तो आलोचना की जरूरत अपने आप बढ़ जाती है।

आज का लेखक स्पर्धा की दौड़ में जी रहा है और स्पर्धा बाजारवाद की देन है। त्वरित प्रसिद्ध के लोभ ने उसे अपने शिकरों में कस लिया है। लेखक के रूप में जन्म लेने से पहले वह प्रेमचन्द व निराला बन जाना चाहता है। यह उतावलापन साहित्य की गहराई और परिपक्वता का विरोधी है। ऐसे समय में जब लेखक अपने दायित्व को भूल रहा है। सम्पूर्ण परिस्थितियाँ बिगड़ सी गई हो, एक ईमानदार आलोचना की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास को देखें तो पाएँगे कि आलोचना समय के साथ-साथ विकसित एवं नवीन रूप धारण करती है। बालकृष्ण भट्ट जहाँ सच्ची समालोचना की बात करते हुए साहित्य को 'जनसमूह' से जोड़ा। इसके बाद महावीर प्रसाद द्विवेदी ने विषय विवेचन और भाषिक त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। इसी समय व्यावहारिक, सैद्धान्तिक, अनुसंधानपरक, तुलनात्मक आदि आलोचना का विकास हुआ। इसमें मिश्रबंधुओं का 'हिन्दी नवरत्न' प्रमुख है।

हिन्दी आलोचना में रामचन्द्र शुक्ल का विशेष महत्व है। इन्होंने चारों स्तरों पर काम करते हुए आलोचना को नई ऊँचाई प्रदान की। व्यावहारिक और सैद्धान्तिक आलोचना के साथ-साथ अनुवाद एवं इतिहास लेखन के कार्य ने इन्हें विशिष्टता प्रदान की। एक तरफ शुक्ल ने तुलसी को स्थापित किया तो दूसरी तरफ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर का मूल्यांकन कर साहित्य को संतुलित करने का काम किया। इसके बाद भी बड़े-बड़े आलोचकों ने अपने नवीन सिद्धांतों एवं पद्धतियों से आलोचना को समृद्ध किया।

वर्तमान हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्श, आदिवासी अर्थात् हाशिए के लोगों की भावनाएं व विचार साहित्य में अभिव्यक्ति होने लगे हैं तो एक पाठक को 'साहित्य समाज का दर्पण है।' जैसी उक्ति मानने में कोई समस्या नहीं होती है। इससे प्रमाणित होता है कि तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक व आर्थिक हलचलें साहित्य में अभिव्यक्त होती हैं। आज इन विमर्शों की बातें होना आम हो गई हैं, लेकिन क्या इन विमर्शों से हमारी सारी जरूरतें पूरी हो जाएंगी? नहीं। हमें इन विमर्शों को एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के साथ समकालीन सामाजिक-राजनीतिक संघर्षों से जोड़ते हुए वैश्विक विचारों और परिवर्तनों को भी देखना होगा तभी एक समेकित आलोचना का स्वरूप विकसित हो सकेगा। आज की हिन्दी

आलोचना बड़े ही जटिल दौर से गुजर रही है। उत्तर-आधुनिकता के प्रभाव में नई-नई आलोचना की पद्धतियाँ विकसित हो रही हैं। आज आलोचकों की कमी नहीं है लेकिन वास्तविक आलोचकीय उद्यम का अभाव होता जा रहा है। रचना के साथ सर्जनात्मक मुठभेड़ के बिना ऐसी आलोचना का विकास नहीं हो सकता है। हमें यह ध्यान रखना होगा कि आलोचना का क्षेत्र विशुद्ध साहित्यिक नहीं है बल्कि इससे कहीं व्यापक है। राजनीतिक, साहित्यिक और व्यावसायिक गुटबंदी से बचकर तथा वाद-विवाद संवाद द्वारा ही अच्छी आलोचना विकसित की जा सकती है।

एक आलोचक अपने इतिहास विवेक से ही रचना के सामाजिक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में सही व्याख्या करता है। आलोचना में इन संदर्भों की मूलभूत जरूरत

त होती है। कुछ ऐसे आलोचक भी होते हैं जो मूल्यों को ही आलोचना का मुख्य प्रयोजन मानते हैं, जबकि ऐसा नहीं है। आलोचना के प्रतिमान तो रचना की परम्परा और उस समय के परिवेश से ही प्राप्त होते हैं। केवल रचना से सबकुछ जानना असंभव है। ऐसे ही समय में आलोचना का दायित्व बनता है कि वे रचना से निर्मित मूल्यों की सार्थकता और प्रासंगिकता का परीक्षण करे जिससे नई मूल्य दृष्टि का विकास हो। आलोचना के महत्व को स्थापित करते हुए डॉ० देवेन्द्र चौबे का कहना कि - ' आलोचना सिर्फ प्रतिगामी ताकतों को समझने वाली पाठीय आलोचना ही नहीं बल्कि वास्तविक समाज की मुश्किलों को समझने वाली बड़ी सच्चाई भी है।

निष्कर्ष - निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आलोचना की जरूरत हमारी अपनी जरूरत है, हमारे समाज की जरूरत है। एक स्वस्थ समाज एवं सृजनशीलता के निर्माण में इसकी भूमिका से इन्कार नहीं किया जा सकता।

सन्दर्भ ग्रन्थ :-

1. मुक्तिबोध- 'एक साहित्यिक की डायरी', पृ० सं० 451
2. देवेन्द्र चौबे- ' आलोचना का जनतन्त्र ' राष्ट्रीय सहारा, 23 फरवरी 2003, नई दिल्ली।